नोआखाली में गाँधी : 1946.

गाँधी के मुसलमान

हिलाल अहमद

मुसलमानों (ख़ास कर औपनिवेशिक भारत के मुसलमानों) के प्रति गाँधी के दृष्टिकोण के बारे में मुख्यतः दो प्रकार की परस्पर भिन्न धारणाएँ मौजूद हैं। एक धारणा के अनुसार हिंदुस्तानी मुसलमानों के प्रति गाँधी के राजनीतिक सोच को समझने के लिए गाँधी के धर्म और नैतिकता से ताल्लुक़ रखने वाले विचारों को देखने की ज़रूरत है ताकि गाँधी की इस्लाम की परिकल्पना को ठीक से समझ कर मुसलमानों के बारे में कोई 'गाँधीवादी सिद्धांत' गढ़ा जा सके।[1] मेरा मानना है कि इस तरह के सुझाव गाँधीवादियों के ही हो सकते हैं स्वयं गाँधी के नहीं। गाँधी ने कभी न तो सिद्धांतकार होने का दावा किया और न ही अपने किसी तर्क को सिद्धांत कहा। उनके अमल और सिद्धांत में सिर्फ़ एक बात केंद्र में रही और वह थी उनकी प्रयोगधर्मिता।

गाँधी और मुसलमानों के रिश्तों को देखने का एक दूसरा घटना-प्रधान नज़रिया भी है। कहा जाता है कि गाँधी ने हमेशा 'मुस्लिम तुष्टीकरण' की नीति का अनुसरण किया। उन्होंने अपने सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन में मुस्लिम नेताओं, और यहाँ तक के मुस्लिम लीग की भी सभी नाजायज़ माँगों को बिना शर्त स्वीकार किया। मुसलमानों के प्रति गाँधीजी की नरमी के कारण ही मुस्लिम लीग के अलगाववाद को वैधता मिली। इसका नतीजा यह हुआ कि लीग ने चालीस

---

[1] अमित डे (2013): 31. 'गाँधी और इस्लाम' शीर्षक से लिखे अपने लेख में अमित डे ने तर्क दिया है कि 'धर्मशास्त्र का अध्ययन यदि बहुविषयक दृष्टिकोण के साथ इसके विशेष ऐतिहासिक संदर्भ को ध्यान में रखते हुए किया जाए तो महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने आ सकते हैं. हालाँकि इस प्रकार की अध्ययन-पद्धति भारत में अभी अपनी शैशवावस्था में ही है, लेकिन यदि इस पद्धति का प्रयोग किया जाए तो यह किसी ऐतिहासिक परिघटना अथवा व्यक्तित्व के बारे में अधिक विस्तृत जानकारी प्रदान कर सकती है.'

के दशक में विभाजन की राजनीति शुरू कर दी और अंततः देश का बँटवारा हो गया। इस तर्क के मुताबिक़ गाँधी विभाजन के लिए पूरी तरह से ज़िम्मेदार हैं।[2]

यह लेख इन दोनों धारणाओं से सहमत नहीं है। इस लेख में आधुनिक धार्मिक समुदायों की बुनावट के बारे में गाँधी के विचारों के माध्यम से भारतीय मुसलमानों के प्रति उनकी संकल्पना को समझने की एक शुरुआती कोशिश की गयी है; और इस प्रयास में कोई निश्चित निष्कर्ष या तर्क देने का दावा नहीं है।

मुस्लिम समाज की सामुदायिक बहुलता इस लेख का एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ-बिंदु है। उल्लेखनीय है कि सत्तर और अस्सी के दशक में मुस्लिम बहुलता की अकादमिक थीसिस एक प्रबल बौद्धिक प्रत्युत्तर के रूप में उभरी थी। मोहम्मद मुजीब, त्रिलोकी नाथ मदन, इम्तियाज़ अहमद, गैल मिनॉल्ट तथा बाद में असग़र अली इंजीनियर एवं मुशीरुल हसन ने यह तर्क दिया था कि औपनिवेशिक काल में इस्लामी एकता और एकरूपता का विचार महज़ एक राजनीतिक नारा भर था, जिसका आम मुसलमानों की रोज़मर्रा की ज़िंदगी से कोई लेना-देना नहीं था। इसके बावजूद इस्लामी एकता के नाम पर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण पनपा और अंततः 1947 में देश का विभाजन हो गया।[3] इस थीसिस के अनुसार सच्चे मुस्लिम बहुलतावाद और आमफ़हम ज़िंदगी में जिये जाने वाले 'व्यावहारिक इस्लाम' की पहचान करके मुस्लिम और हिंदू साम्प्रदायिकता को परास्त किया जा सकता है ताकि एक धर्मनिरपेक्ष भारत का निर्माण हो सके। दिलचस्प बात यह है कि इस प्रकार के लेखन में गाँधी बार-बार सामने लाए जाते हैं, कभी हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रतीक के रूप में तो कभी राष्ट्रपिता के रूप में।

मेरा मत है कि मुस्लिम बहुलता की इस थीसिस में गाँधी को एक प्रतीक के रूप में तो देखा जा सकता है। लेकिन यह कहना कि गाँधी मुस्लिम बहुलता को वैसे ही समझ रहे थे जैसे कि सत्तर और अस्सी के दशक के समाजशास्त्री, ग़लत होगा। गाँधी अपने पूरे राजनीतिक जीवन के दौरान बेझिझक हिंदू-मुसलमान जैसे शब्दों का इस्तेमाल वैध राजनीतिक श्रेणियों के रूप में करते रहे। यहाँ तक कि विभाजन के दौरान होने वाले दंगों के ज़माने में भी उन्होंने मुसलमानों को एक समजातीय धार्मिक समुदाय के रूप में ही सम्बोधित किया। उदाहरण के लिए 12 सितम्बर, 1947 की प्रार्थना सभा में गाँधी कहते हैं :

> हम अपने धर्म को पहचानें। उस धर्म के मुताबिक़ मैं सब लोगों को कहूँगा कि यह हमारा परम धर्म है कि हम किसी हिंदू को पागल न बनने दें, किसी सिख को पागल न बनने दें ... मुसलमानों से मेरा कहना है कि आप साफ़ दिल से कह दें कि आप हिंदुस्तान के हैं, यूनियन के वफ़ादार हैं। अगर आप ईश्वर के वफ़ादार हैं और आपको इण्डियन यूनियन में रहना है तो आप हिंदुओं के दुश्मन नहीं बन सकते। पाकिस्तान में जो मुसलमान हिंदुओं के दुश्मन बने पड़े हैं उन्हें सुनाना है कि आप पागल न बनें। अगर आप पागल बनेंगे तो हम आपका साथ नहीं दे सकते। हम तो यूनियन के वफ़ादार रहेंगे, इस तिरंगे झण्डे को सलाम करेंगे। हुकूमत का जैसा हुक्म होगा, उसके मुताबिक़ हमें चलना है।[4]

इस वक्तव्य में कई सवाल छिपे हैं : क्या गाँधी भारतीय समुदायों को सजातीय समूहों के रूप में देखने वाली औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था से ग्रसित नहीं थे? धर्म और राजनीति के सम्मिश्रण द्वारा क्या वे एक अलग तरह की सामुदायिक (अगर साम्प्रदायिक न भी कहें तो!) राजनीति नहीं कर रहे थे? मुस्लिम लीग के इस तर्क के विरोध में हिंदू और मुसलमान दो अलग राष्ट्रीयताएँ हैं और वे एक राष्ट्र का अंग नहीं बन सकते, गाँधी यह क्यों नहीं कहते दीखते कि हिंदुस्तान में न तो एक तरह के हिंदू हैं और न एक तरह के मुसलमान? क्या हिंदू-मुस्लिम मुद्दे पर ज़ोर देने (या ज़रूरत से

---

[2] वाई.जी. भावे की पुस्तक 'महात्मा ऐंड द मुस्लिम्स' (1997) इस प्रकार के लेखन का एक उदाहरण है.

[3] देखें मुजीब, (1967), मदन (2011), अहमद (1983), मिनॉल्ट (1982), हसन (1997), इंजीनियर (1975).

[4] *सम्पूर्ण गाँधी वाड्मय,* खण्ड 89 : 3 अगस्त 1947 से 10 नवम्बर 1947 : 197-198

ज़्यादा ज़ोर देने) के कारण साम्प्रदायिक राजनीति की अवधारणा अधिक बलवती नहीं हुई ?

हो सकता है ये प्रश्न गाँधी के लिए ज़्यादा महत्त्वपूर्ण न रहे हों। लेकिन इस्लाम और मुसलमानों के बारे में उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय बौद्धिक वर्ग ने जिस प्रकार मुस्लिम बहुलतावाद को एक न्यायपरायण, परम, धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक थीसिस बनाकर पेश किया है उसके चलते मुसलमानों के बारे में गाँधी की परिकल्पना का अध्ययन बेहद ज़रूरी हो जाता है। यही इस लेख का मुख्य प्रश्न है।

गाँधी को कैसे पढ़ें ?

नवजीवन ट्रस्ट द्वारा छापी गयी गाँधी की अधिकतर पुस्तकों में हमें एक दिलचस्प उद्धरण पढ़ने को मिलता है। गाँधी कहते हैं :

> मेरे लेखों में दिलचस्पी लेने वाले लोगों को मैं यह बता देना चाहता हूँ कि मेरे लेख सदा सुसंगत ही प्रतीत हों, इसकी मुझे तनिक भी चिंता नहीं है ... इसलिए मेरे किन्हीं भी दो लेखों में यदि किसी को कोई असंगति लगे और उसका मेरी विवेकशीलता में विश्वास हो, तो उसके लिए एक ही विषय पर लिखे दो लेखों में से बाद के लेख को चुनना ही अच्छा रहेगा। [5]

गाँधी की सलाह बहुत महत्त्वपूर्ण है। पाठक को अपने विचारों के सही अर्थ से वाक़िफ़ करवाने के लिए वे अपने विचारों को उनके ऐतिहासिक संदर्भ में देखने की नसीहत देते हैं। ऐसा लगता है कि गाँधी अपने पाठक को अपने विचारों के विकास की सांदर्भिक विकासयात्रा से अवगत करवाना चाहते हैं। अत: वे सिर्फ़ एक लेखक की ही भूमिका नहीं निभाते बल्कि अपने लेखों एवं भाषणों के संदर्भ में विकसित हो रहे विमर्श में सक्रिय भागीदार भी रहते हैं।[6]

प्रथमा बनर्जी, आदित्य निगम एवं राकेश पाण्डेय गाँधी जैसे विचारकों को समझने हेतु एक रचनात्मक सम्भाव्यता की ओर इशारा करते हैं। उनका कहना है कि किसी विचारक को उसके अपने संदर्भ में तो देखा ही जाना चाहिए, लेकिन साथ-ही-साथ, 'किसी विचार को उसके अपने संदर्भ से मुक्त करके ... हम उस विचार के बारे में बहुत सी नयी सम्भावनाएँ भी उत्पन्न कर सकते हैं।' [7]

इस सुझाव को ध्यान में रखते हुए इस लेख में मैं गाँधी के विचारों को तीन तरह से पढ़ने की कोशिश करूँगा : मैं उन घटनाओं के संदर्भ में गाँधी का अध्ययन करूँगा जिन्होंने गाँधी को कुछेक विशेष प्रश्नों के प्रति प्रतिक्रिया करने हेतु प्रभावित किया; मैं गाँधी के पास उपलब्ध बौद्धिक स्रोतों— राजनीतिक धारणाएँ, प्रशासनिक श्रेणियाँ तथा धार्मिक-सांस्कृतिक डिस्कोर्स— के संबंध में उनका अध्ययन करूँगा;[8] और अंत: में मैं आज के दौर में मुसलमानों को एक एकरूप समुदाय के रूप में प्रदर्शित करने की प्रक्रिया के संदर्भ में गाँधी का अध्ययन करूँगा।

---

[5] *हिंद स्वराज* (1938) : 2

[6] गाँधी को कैसे पढ़ें तथा विशेषत: *हिंद स्वराज* (उन्होंने 1909 में इस पुस्तक को लिखा और बाद के संस्करणों में भी कोई बदलाव अथवा संशोधन नहीं किया) को कैसे पढ़ें— इस बारे में विस्तृत अध्ययन हेतु देखें, परेल (2007).

[7] बनर्जी तथा अन्य (2016) : 49

[8] इस संदर्भ में गाँधी द्वारा एक उर्दू अख़बार के प्रकाशन की सम्भावना के प्रति उनके प्रत्युत्तर का उदाहरण देना समीचीन रहेगा. गाँधी का कहना है : 'एक मुसलमान भाई कराची से लिखते हैं, 'आप गुजरातियों के लिए गुजराती *नवजीवन,* हिंदी भाषियों के लिए हिंदी *नवजीवन* और अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के लिए अंग्रेज़ी में *यंग इण्डिया* निकालते हैं. मुसलमानों की सात करोड़ की आबादी है; और उनमें से अधिकतर केवल उर्दू जानते हैं. क्या आप उनके लिए नयी ज़िंदगी अर्थात् 'उर्दू नवजीवन' प्रकाशित करके उन्हें आभारी नहीं करेंगे ? यदि ऐसा किया जा सके तो हिंदू-मुस्लिम झगड़े कम होंगे और दोनों के बीच मैत्री की गाँठ मज़बूत होगी. जबसे गुजराती *नवजीवन* आरम्भ हुआ है तबसे मेरे मन में ऐसी हवस अवश्य पैदा हुई है; लेकिन मुझे उसकी आवश्यकता के बारे में संदेह है. मैं ऐसा पत्र नहीं निकालना चाहता जिसका ख़र्च हमारे सिर पड़े. उर्दू नवजीवन पढ़ने वाले मुसलमान भाइयों के अच्छी संख्या में मिल जाने पर ही 'उर्दू नवजीवन' निकाला जा सकता है. मैंने मुसलमान भाइयों से बातचीत की है. उनका अभिमत 'उर्दू नवजीवन' के विरुद्ध है. मैं इसीलिए शांत हो गया हूँ. उन्होंने मुझे बताया है कि उर्दू के अख़बार *यंग इण्डिया* का ख़ासा हिस्सा ले लेते हैं.' (*सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय,* खण्ड 24, मार्च, 1924 से अगस्त, 1924 : 203)

मुसलमानों की गुण्डा छवि

आइए, *हिंद स्वराज* के अध्ययन से बात शुरू करते हैं। 1909 में लिखी यह पुस्तिका संकलित रूप में गाँधी के विचारों का इकलौता नमूना है और उन्होंने कभी इस पुस्तिका में बदलाव नहीं किये, न ही किसी विचार का त्याग किया। इस पुस्तिका में हिंदुओं और मुसलमानों की जन्मजात शत्रुता के बारे में पाठक एवं सम्पादक के बीच एक रोचक संवाद दर्ज किया गया है। सम्पादक के रूप में गाँधी पाठक को जवाब देते हैं कि 'जन्मजात शत्रुता' जैसे शब्द ब्रिटिश राज के आगमन के बाद अस्तित्व में आये हैं। मुसलमानों को भारत का अभिन्न अंग बताते हुए गाँधी तर्क देते हैं :

> क्या हम इतना भी याद नहीं रखते कि बहुतेरे हिंदुओं और मुसलमानों के बाप-दादे एक ही थे, हमारे अंदर एक ही ख़ून है। क्या धर्म बदला इसलिए वे दुश्मन बन गये? धर्म तो एक ही जगह पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं। हम दोनों अलग रास्ते लें इससे क्या हो गया? उसमें दुख काहे का?[9]

वे आगे कहते हैं :

> जो टेढ़ा नहीं देखना चाहते वे देख सकेंगे कि क़ुरानशरीफ़ में ऐसे सैकड़ों वचन हैं, जो हिंदुओं को मान्य हों; भगवद्‌गीता में ऐसी बातें लिखी हैं कि जिनके ख़िलाफ़ मुसलमान को कोई एतराज़ नहीं हो सकता। क़ुरानशरीफ़ का कुछ भाग मैं न समझ पाऊँ, या मुझे कुछ भाग पसंद न आये, इस वजह से क्या मैं उसे मानने वाले से नफ़रत करूँ? ... सब अपने अपने धर्म का स्वरूप समझ कर उससे चिपके रहें और शास्त्रियों व मुल्लाओं को बीच में न आने दें, तो झगड़े का मुँह हमेशा के लिए काला ही रहेगा।[10]

मुसलमानों को एक शांतिपूर्ण भारतीय धार्मिक समुदाय और क़ुरान को शांति एवं प्रेम के संदेश के रूप में दर्शाने वाला यह वक्तव्य 1947 के बाद की अल्पसंख्यक-अधिकारों की राजनीति से सुसंगत सा लगता है। इंदिरा गाँधी के बाद के दौर का कोई भी स्वघोषित धर्मनिरपेक्ष नेता इस उद्धरण को आज दौर के हिंदुत्ववादी भक्तों के विरुद्ध इस्तेमाल कर सकता है।

लेकिन गाँधी की समझ इतनी सीधी नहीं है। उनका निश्चित मत है कि हमें धार्मिक शिक्षाओं और रोज़मर्रा के जीवन में उनके अमल के आपसी अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। 1924 में जब उत्तरी और पश्चिमी भारत में एक के बाद एक दंगे भड़क उठे तो मुसलमानों का एक दल गाँधी के पास गया और साम्प्रदायिक तनाव को समाप्त करने की एक युक्ति पेश की। इसे मुसलमानों ने सुझाया कि हिंदुओं को पैग़म्बर मुहम्मद को रसूल और अल्लाह को परमेश्वर मान लेना चाहिए; और मुसलमानों को चाहिए कि वे भगवान राम, भगवान कृष्ण का सम्मान करने लगें और वेदों को दैवी पुस्तक मानने लगें। ऐसा करने से दोनों समुदाय एक-दूसरे के नज़दीक आएँगे और हिंसा समाप्त हो जाएगी। गाँधी ने इस सुझाव को सिरे से नकार दिया। उन्होंने लिखा :

> उपाय उतना आसान नहीं जितना कि वे बताते हैं ... यह सूत्र चाहे कुछ सुशिक्षित लोगों के लिए ठीक हो, पर सामान्य लोगों के लिए वह काम न देगा। क्योंकि हिंदुओं की दृष्टि में गौ-रक्षा और रास्ते में मस्जिद हो तो भी वाद्य और संगीत के साथ हरि-कीर्तन करते हुए जाना हिंदू धर्म का सार है और मुसलमानों के ख़याल में गौ-वध और बाजे बजाने पर रोक इस्लाम का सार सर्वस्व है।[11]

इस प्रकार, गाँधी के मतानुसार सामान्य हिंदू और मुसलमान ऐसी प्रथाओं का निर्वाह करते हैं जो हिंदू धर्म और इस्लाम की नैतिक शिक्षाओं से बिल्कुल भिन्न हैं। अत: यह मान्यता मिथ्या है कि धर्मसुधार द्वारा उस धर्म के मानने वालों के दृष्टिकोण में स्वत: ही परिवर्तन हो जाएगा।

---

[9] *हिंद स्वराज* (1949) : 34

[10] *हिंद स्वराज* (1949) : 36-37

[11] *सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय,* खण्ड 25, अगस्त, 1924 से जनवरी, 1925 : 190

... 'मुसलमान आम तौर पर धींगामुश्ती करने वाला और हिंदू दब्बू होता है। ... क्या अपने दब्बूपन के लिए हिंदू मुसलमानों को दोष दे सकते हैं? जहाँ कायर होंगे वहाँ ज़ालिम भी होंगे ही ... मुसलमान अपने इस घृणित आचरण की सफ़ाई किसी तरह नहीं दे सकते। **पर एक हिंदू की हैसियत से मैं तो मुसलमानों की गुण्डागर्दी के लिए उन पर गुस्सा होने से कहीं अधिक हिंदुओं की नामर्दी पर शर्मिंदा होता हूँ।** जिनके घर लुट गये, वे अपने माल-असबाब की हिफ़ाज़त में जूझते हुए वहीं क्यों नहीं मर मिटे? ... मेरे अहिंसा धर्म में ख़तरे के वक़्त अपने कुटुम्बियों को अरक्षित छोड़ कर भाग खड़े होने की गुंजाइश नहीं है। **हिंसा और कायरतापूर्ण पलायन से यदि मुझे किसी एक को पसंद करना पड़े तो मैं हिंसा को ही पसंद करूँगा।**

यहाँ हमें गाँधी के विचारों में विरोधाभास नज़र आ सकता है। *हिंद स्वराज* में उन्होंने क़ुरान और मुसलमानों के बीच प्रत्यक्ष संबंध बताया था। लेकिन 1924 में उनका यह मत है कि किसी धर्म की नैतिक शिक्षाओं और उस धर्म के अनुयायियों के रोज़मर्रा के कार्य-व्यवहार में बहुत फ़र्क़ होता है। गाँधी के दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि यह विरोधाभास बेमानी है। हमें 1924 वाली बात ही को सही मानना चाहिए क्योंकि यह वक्तव्य *हिंद स्वराज* के लिखे जाने के 15 साल बाद का है। लेकिन तब सवाल पैदा होता है कि क्या हम *हिंद स्वराज* के विचारों को नकार दें जिन्हें गाँधी स्वयं कभी बदलना नहीं चाहते थे?

गाँधी ने मई 1924 में *यंग इण्डिया* में 'हिंदू-मुस्लिम तनाव : कारण और उपचार' शीर्षक से एक लम्बा लेख लिखा था। यह लेख उतेजक भाषा में लिखा गया था। इस लेख में हिंदुओं और मुसलमानों की विशेषताओं का ज़िक्र करते हुए आत्मरक्षार्थ हिंसा के प्रयोग का समर्थन भी किया गया है।

इस लेख में गाँधी ने मुसलमानों को गुण्डा और हिंदुओं को दब्बू कहा है। वे लिखते हैं :

> मुझे रत्ती भर भी शक नहीं कि ज़्यादातर झगड़ों में हिंदू लोग ही पिटते हैं; मेरे निजी अनुभव से भी इस मत की पुष्टि होती है कि मुसलमान आम तौर पर धींगामुश्ती करने वाला और हिंदू दब्बू होता है। रेलगाड़ियों में, रास्तों पर, तथा ऐसे झगड़ों का निपटारा करने के जो मौक़े मुझे मिले हैं उनमें मैंने यही देखा है। क्या अपने दब्बूपन के लिए हिंदू मुसलमानों को दोष दे सकते हैं? जहाँ कायर होंगे वहाँ ज़ालिम भी होंगे ही ... इसमें ग़लती किसकी थी? यह सच है कि मुसलमान अपने इस घृणित आचरण की सफ़ाई किसी तरह नहीं दे सकते। पर एक हिंदू की हैसियत से मैं तो मुसलमानों की गुण्डागर्दी के लिए उन पर गुस्सा होने से कहीं अधिक हिंदुओं की नामर्दी पर शर्मिंदा होता हूँ। जिनके घर लुट गये, वे अपने माल-असबाब की हिफ़ाज़त में जूझते हुए वहीं क्यों नहीं मर मिटे? ... मेरे अहिंसा धर्म में ख़तरे के वक़्त अपने कुटुम्बियों को अरक्षित छोड़ कर भाग खड़े होने की गुंजाइश नहीं है। हिंसा और कायरतापूर्ण पलायन से यदि मुझे किसी एक को पसंद करना पड़े तो मैं हिंसा को ही पसंद करूँगा।[12]

जैसा कि अपेक्षित था, इस भड़काऊ लेख की चौतरफ़ा आलोचना की गयी।[13] हिंदू पाठकों ने उन पर मुसलमानों का पक्षपाती होने की तोहमत लगाई तो मुसलमानों ने उन पर हिंसा के प्रचार का दोष लगाया। लेकिन गाँधी ने इन आलोचनाओं को स्वीकार नहीं किया। *यंग इण्डिया* के अगले अंक में उन्होंने पाठकों के पत्र एवं अपना प्रत्युत्तर प्रकाशित किये। उन्होंने कहा :

> मुझे तो इस कथन में कोई ख़तरनाक बात दिखाई नहीं देती। अगर मेरे वक्तव्य के परिणामस्वरूप

---

[12] *सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय,* खण्ड 24, मार्च, 1924 से अगस्त, 1924 : 145-46.

[13] हिंदू कायरता की अवधारणा के विशद विश्लेषण के लिए देखें, रुडोल्फ़ और रुडोल्फ़ (2010) : 160-183.

> हिंदुओं में ऐसी शक्ति का संचार हो जाए जिससे वे ख़तरा आ पड़ने पर अपनी रक्षा कर सकें तो मुझे प्रसन्नता ही होगी। जब तक हम एक-दूसरे से डरना न छोड़ देंगे, तब तक हमें एकता की उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। ... मैं इस बात को समझ सकता हूँ कि हर गंदी चीज़ लोगों के सामने न रखी जाए, पर जो बातें साफ़ तौर पर हमारी नज़रों के सामने आती हैं और जो हर शख़्स के दिमाग़ में चक्कर काट रही हों, उनकी ओर से आँखें बंद नहीं की जा सकतीं।[14]

गाँधी एवं उनके अंग्रेज़ीदाँ मुसलमान पाठकों के बीच का यह संवाद साम्प्रदायिक हिंसा के बारे में कई अंतर्दृष्टिपूर्ण टिप्पणियाँ प्रदान करता है। लेकिन हैरत की बात यह है कि इस संवाद के दौरान एक योद्धा क़ौम, या गुण्डों, के रूप में मुसलमानों के वर्णन पर कोई एतराज नहीं किया गया। तब सवाल पैदा होता है क्या गुण्डा एक नकारात्मक शब्द नहीं है ?

एक बहादुर क़ौम के रूप में मुसलमान

अब हम भारतीय धार्मिक समुदायों के बारे में प्रचलित धारणाओं के प्रश्न पर विचार करेंगे। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उच्च जाति के मुसलमानों को हमेशा 'योद्धा वर्ग' की श्रेणी में रखा जाता था। आगे चल कर इन ऊँची जाति के मुसलमानों के सांस्कृतिक मूल्य और धार्मिक मान्यताएँ ही भारतीय मुसलमानों के प्रतीक के रूप में प्रचलित हो गये। मैं तीन उदाहरणों के माध्यम से इस बिंदु को स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा।

जॉन स्ट्रेची की प्रसिद्ध पुस्तक *इण्डिया* भारतीय मुसलमानों की एक रोचक तस्वीर प्रस्तुत करती है। 1891 में प्रकाशित यह पुस्तक मुसलमानों के बीच विद्यमान जातिगत ऊँच-नीच का स्पष्ट वर्णन करती है। स्ट्रेची ने पाया कि मुसलमान इस्लाम के अनुसार नहीं रह रहे हैं। उन्होंने कहा कि अधिकतर मुसलमान 'अपने धर्म से अनभिज्ञ हैं, और इस्लामी मूल्य-मान्यताओं से इस क़दर अनजान हैं कि उनकी गिनती हिंदुओं के एक वर्ग के रूप में की जा सकती है।'[15] वे अपने अवलोकन के आधार पर आगे कहते हैं : 'बलूच और पठान जैसी प्रभुत्वशाली नस्लें विदेशी मूल की हैं, लेकिन अधिकतर मुसलमान उन स्थानीय हिंदू एवं अन्य क़बीलों के वंशज हैं जिन्होंने बहुत समय पहले थोड़ी-बहुत कमी-बेशी के साथ अपने शासकों के धर्म को अपना लिया था।[16]

इस कथन से साफ़ है कि यहाँ दो तरह के मुसलमानों के बारे में बात हो रही है : विदेशी, योद्धा, भारत-विजय करने वाले मुसलमान; तथा वे मुसलमान जो बहुत समय पहले इस्लाम तो क़बूल कर चुके है लेकिन उनका पूरी तरह से इस्लामीकरण नहीं हुआ है। स्ट्रेची का कहना है कि विदेशी मुसलमान 'अपनी संख्या के अनुपात में कहीं अधिक रौब-रसूख़ रखते हैं; वे ... हिंदुओं से अधिक ऊर्जस्वी तथा स्वतंत्र स्वभाव के हैं। आचरण और शालीनता के मामले में उत्तर भारत के अशराफ़ मुसलमानों का कोई सानी नहीं है।[17]

स्ट्रेची का कहना है कि उन्नीसवीं सदी में मुसलमानों के बीच 'इस्लामी शुद्धीकरण' मुहिम की शुरुआत के बाद भारतीय मुसलमानों और शासकवर्गीय मुसलमानों का आपसी अंतर कम होने लगा। उनका विचार है कि 'जैसे-जैसे मुसलमान अधिक रूढ़िवादी होता जाता है, वैसे-वैसे उसके और बुतपरस्ती के बीच की खाई भी बढ़ती जाती है।'[18] अत:, यह अपेक्षा रखी जा सकती है कि इस्लाम के शुद्धीकरण द्वारा न केवल एक समजातिगत मुस्लिम उम्मा का निर्माण होगा, बल्कि आम मुसलमानों

---

[14] *सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय,* खण्ड 24, मार्च, 1924 से अगस्त, 1924 : 240-241.

[15] स्ट्रेची (1894) : 235.

[16] स्ट्रेची (1894) : 235.

[17] स्ट्रेची (1894) : 240.

[18] स्ट्रेची (1894) : 24.

में शासक वर्ग के साहस और संकल्प जैसे गुण भी विकसित हो जाएँगे।

स्ट्रेची का यह अवलोकन पूर्णत: असत्य नहीं है। मुसलमानों की नस्ली एवं धार्मिक विशेषताओं के बारे में लिखते हुए इस्लामी विद्वान और जज अमीर अली इस तथ्य पर ज़ोर देते हैं कि औपनिवेशिक भारत में केवल मुसलमान ही एकमात्र समजातीय समुदाय हैं। 1907 में 'उत्तर भारत और बंगाल की नस्ली विशेषताएँ' शीर्षक से प्रकाशित अपने एक लम्बे लेख में अली ने तर्क दिया कि 'साझी धार्मिक भावना और परम्परा की एकता के फलस्वरूप मुसलमान भारत में एकमात्र समजातीय क़ौम के रूप में उभरे हैं।'[19] उनका मत है कि यह विराट एक्यभाव मुसलमानों के भीतर गर्व का संचार करता है। अली के विचार में, मुसलमानों की *'मर्दानगी एक हद तक ही नस्ल पर आधारित है। धर्म इसका बड़ा स्रोत है, और वह मुसलमानों को मानवीय गरिमा और स्वतंत्रता का बोध प्रदान करता है।'*[20](ज़ोर मेरा)

अमीर अली भारत के मुसलमानों की समाजशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक विविधता से इंकार नहीं करते। उन्होंने भारत में मुसलमानों को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया है : सैयद, मुग़ल, पठान और शेख़। वे पहले तीन समूहों के भारत में आगमन और बसावट, उनके सांस्कृतिक मूल्यों और सामाजिक बनावट-बुनावट का विवरण प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, सैयदों को अशराफ़ कहा गया है, पठान को ताक़तवर एवं बहादुर ,तो मुग़ल को अदबो-आदाब का रहरवाँ कहा गया है। लेकिन वे शेख़ों की बात करना ज़रूरी नहीं समझते। उनका कहना है : 'शेखों में धर्मपरिवर्तित हिंदू और उपरोक्त तीन श्रेणियों से बाहर के पश्चिमी प्रवासी शामिल हैं। उनकी विशेषताओं की चर्चा करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।'[21]

स्थानीय धर्मांतरित शेखों के बारे में जानबूझ कर चुप्पी साधना एक बड़ा मुद्दा है। ऐसा लगता है कि अमीर अली यह मानते हैं कि यह वर्ग पूरी तरह से इस्लामी नहीं है और अभी 'मुसलमान बनने' की प्रक्रिया में हैं! स्ट्रेची की ही तरह उनका भी यह मत है कि मुस्लिम क़ौम के इतिहास के पुनर्लेखन एवं प्रकाशन तथा निम्नवर्गीय मुसलमानों को श्रेष्ठतर उच्चवर्गीय मुसलमानों— सैयद, पठान एवं मुग़ल— की नस्ली मान्यताओं से अवगत करवाने के माध्यम से ही मुस्लिम संस्कृति एवं अस्मिता की व्याख्या पूर्णत: इस्लामी मानकों के आधार पर की जा सकती है।

विशुद्ध इस्लाम की अवधारणा ने केवल उन्नीसवीं सदी के धर्मसुधार आंदोलनों को बल्कि साहित्यिक परम्परा—विशेषत: उर्दू शायरी— को भी एक शक्तिशाली बौद्धिक स्रोत प्रदान किया। इस संदर्भ में शायर और दार्शनिक इक़बाल बेहद प्रासंगिक हैं। 1911 में लाहौर के अंजुमन-हिमाया-ए-इस्लाम के सालाना जलसे में पढ़ी गयी इक़बाल की प्रसिद्ध नज़्म 'शिकवा' विशुद्ध इस्लाम के बीसवीं सदी के विमर्श के एक अन्य पहलू की ओर इशारा करती है। 'शिकवा' में इक़बाल लिखते हैं :

इसी मामूरे में आबाद थे यूनानी भी
इसी दुनिया में यहूदी भी थे, नस्रानी भी
पर तेरे नाम पे तलवार उठाई किसने
बात जो बिगड़ी हुई थी वो बनाई किसने[22]

दो साल बाद 1913 में उन्होंने 'जवाबे-शिकवा' नज़्म लिखी और लाहौर के मोची गेट मुशायरे में पहली बार इसे पढ़ा। इस तवील नज़्म में उन्होंने ख़ुदा का नज़रिया पेश किया है। इस नज़्म में ख़ुदा मुसलमानों को इस्लामी अदल अपनाने के लिए कह रहा है :

वज्अ में तुम हो नसारा तो तमद्दुन में हुनूद

---

[19] अली (1968) : 294.

[20] अली (1968) : 234.

[21] अली (1968) : 246.

[22] http://www.columbia.edu/itc/mealac/pritchett/00urdu/iqbal/shikvah0105.html

ये मुसलमाँ हैं जिन्हें देख के शरमाएँ यहूद
यूँ तो सय्यद भी हो मिर्ज़ा भी हो अफ़ग़ान भी हो
तुम सभी कुछ हो बताओ तो मुसलमान भी हो [23]

इन तीनों उदाहरणों— भारतीय मुसलमानों की रोज़मर्रा की ज़िंदगी के बारे में सिविल सेवा अधिकारियों का मार्गदर्शन की मंशा से लिखी गयी पुस्तक, अमीर अली द्वारा मुस्लिम क़ौम के नस्ली किरदार का विद्वत्तापूर्ण वर्णन तथा शे'री लहज़े में अभिव्यक्त इक़बाल की मुस्लिम दुश्चिंता— को अगर ग़ौर से देखें तो भारतीय मुसलमानों के इस्लामीकरण की प्रक्रिया के दो अंतर्भूत आयाम साफ़ पहचाने जा सकते हैं।

इस्लामी सुधारकों तथा मुसलमानों को एक क़ौम के रूप में परिभाषित करने वालों का एक प्रधान उद्देश्य था इस्लाम के एक शुद्ध, ख़ालिस, सार्वभौम रूप की खोज करना एवं उसका प्रचार करना। इसका नतीजा यह हुआ कि बीसवीं सदी के शुरुआती सालों में एक आदर्श एवं शुद्ध इस्लाम की संकल्पना तथा मुस्लिम उम्मा के ऐतिहासिक चित्रण से संबंधित डिस्कोर्स सार्वजनिक जीवन में सामने आने लगा।

इस विमर्श ने हिंदुओं को दुर्बल, लेकिन शिक्षित, मज़बूत लेकिन असंगठित समुदाय की छवि प्रदान की। जिसके बरअक्स एक ऐसी मुसलमान छवि का निर्माण हुआ जिसके मुताबिक़ मुसलमान अत्यधिक धार्मिक, मज़बूत, स्वतंत्र एवं लड़ाकू क़ौम हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो मुसलमान दरअसल पठान हैं! शायद यही वजह थी कि मुसलमानों को ख़ान साहब कहा जाने लगा!

अब यह प्रश्न यह उठता है कि क्या गाँधी भी हिंदुओं एवं मुसलमानों की इस छवियों को सही मान कर चल रहे थे?

मुसलमान बरअक्स इस्लाम

आइए, 1924 में शुरू हुई एवं *नवजीवन* में लगातार तीन साल तक चली उस पुरानी बहस पर फिर से लौटते हैं। अपने एक लम्बे लेख में गाँधी ने तर्क दिया कि एक धार्मिक समुदाय के रूप में मुसलमानों के चरित्र और क़ुरान में वर्णित नैतिकता को एक समान नहीं समझा जाना चाहिए। लेकिन, फिर भी मुसलमानों को गुण्डा कहे जाने के समर्थन में उन्होंने दो मुख्य तर्क दिये।

पहला कारण है इस्लाम की वह भ्रामक कहानी जिसके अनुसार यह बताया जाता है कि हिंसा और तलवार के ज़ोर के बिना इस्लाम की कल्पना ही नहीं की जा सकती। गाँधी इस्लाम के इस 'विरूपित' वर्णन को समस्या की जड़ मानते हैं। उनका तर्क है :

> तलवार वैसे इस्लाम का धर्म-चिह्न नहीं है मगर इस्लाम की पैदाइश ऐसी स्थिति में हुई जहाँ तलवार की ही तूती बोलती थी और अब भी बोलती है। ईसा के संदेश का कुछ भी असर नहीं पड़ा क्योंकि उसे ग्रहण करने लायक़ वातावरण ही उपस्थित नहीं हुआ। पैग़म्बर के उपदेशों के साथ भी यही बात है। मुसलमानों को बात-बात पर तलवारें निकाल लेने की बान पड़ गयी है। इस्लाम का अर्थ हैं शांति; अगर उसे अपने अर्थ के अनुसार बनना है तो तलवार म्यान में रखनी होगी ... ईश्वर पर विश्वास और तलवार पर विश्वास, इन दोनों चीज़ों में कोई संगति नहीं है। मुसलमानों को सामूहिक रूप से इस हत्या की निंदा करनी चाहिए। [24]

दूसरे, गाँधी का विचार है कि इस्लामी विस्तार के साथ जुड़े साम्राज्यवाद के इतिहास ने मुसलमानों को एक योद्धा समुदाय में बदल दिया है :

> मुसलमान बहुधा अल्पसंख्यक ही हैं और इसलिए समुदाय के रूप में वे आततायी बन गये हैं। फिर

---

[23] http://www.columbia.edu/itc/mealac/pritchett/00urdu/iqbal/shikvahjavab1620.html 8 अगस्त, 2017 को देखा गया.

[24] *सम्पूर्ण गाँधी वाड्मय,* खण्ड 32, नवम्बर, 1926 से जनवरी, 1927 : 469-470.

1947 में पाकिस्तान जाने का इंतज़ार करते मुसलमानों के बीच दिल्ली के पुराना क़िला कैम्प में गाँधी.

> वे एक नयी परम्परा के वारिस हैं। इससे उनमें जीवन की इस अपेक्षाकृत नयी प्रणाली के अनुरूप साहस दिखाई देता है। मेरी राय में तो *क़ुरान* में अहिंसा का मुख्य स्थान है; पर 1300 साल से साम्राज्य विस्तार करते आने के कारण मुसलमान जाति लड़ाकू जाति हो गयी है। इसलिए उन्हें धींगामुश्ती की आदत पड़ गयी है। गुण्डापन धींगामुश्ती का एक स्वाभाविक परिणाम है।[25]

गाँधी मुसलमानों के बीच बढ़ते हुए इस्लामीकरण को कड़ी चुनौती देते हैं। वे हमें बताते हैं कि क़ुरान में वर्णित नैतिक मूल्यों एवं मुसलमानों के इतिहास में कोई समानता नहीं है। ऐसा लगता है मानो वे मुसलमानों को हिंसा एवं क़ब्ज़ेदारी के इतिहास से परे इस्लाम की सम्भावना के बारे में तलाशने के लिए प्रेरित कर रहे हों।

इतिहास के प्रति उनके अवमानना भरे दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें फिर से *हिंद स्वराज* की ओर जाना होगा। गाँधी अतीत एवं इतिहास के बीच एक महत्त्वपूर्ण फ़र्क़ को रेखांकित करते हैं :

> इतिहास किसे कहते हैं हमें यह जानना होगा। 'इतिहास' का शब्दार्थ है 'जैसा हो गया।' ऐसा अर्थ करें तो आपको सत्याग्रह के कई प्रमाण दिये जा सकेंगे। 'इतिहास' जिस अंग्रेज़ी शब्द का तर्जुमा है और जिस शब्द का अर्थ बादशाहों की तवारीख़ होता है, उसका अर्थ लेने से सत्याग्रह का प्रमाण नहीं मिल सकता ... 'हिस्टरी' अस्वाभाविक बातों को दर्ज करती है। सत्याग्रह स्वाभाविक है, इसलिए उसे दर्ज करने की ज़रूरत ही नहीं है।'[26]

इसका यह अर्थ नहीं है कि गाँधी अतीत के प्रति समझदारी की महत्ता को नकार रहे हैं। गाँधी एक ऐसे अतीत की कल्पना करते हैं जिसे महसूस किया जा सके, जो हमारे चिंतन में सहायक हो और जो हमारे कर्म का अंतर्भूत अंग बन सके। वे आगाह करते हैं कि 'जो चीज़ तवारीख़ में नहीं देखी वह नहीं होगी, ऐसा मानने में तो हमारी ही कमी है। जो बात हमारी अक़्ल में आ सके उसे आख़िर हमें आजमाना तो चाहिए ही' [27]

ऐसा लगता है कि अतीत के प्रति अपनी उपरोक्त समझ के अनुसार गाँधी पैग़म्बर मुहम्मद एवं एवं अन्य इस्लामी प्रतीकों का वि-रहस्यीकरण करना चाहते हैं। *यंग इण्डिया* में प्रकाशित अपने एक

---

[25] *सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय,* खण्ड 24, मार्च, 1924 से अगस्त 1924 : 276.

[26] *हिंद स्वराज (*1949) : 61–63.

[27] *हिंद स्वराज* (1949) : 50.

लेख में गाँधी ने खुले शब्दों में कहा कि पैग़म्बर मुहम्मद का जीवन न्याय, शांति एवं समता हेतु संघर्ष का प्रतीक है। गाँधी लिखते हैं :

> अब मेरा यह विश्वास पहले से भी अधिक पक्का हो गया है कि मानव-जीवन में इस्लाम ने जो स्थान प्राप्त किया, वह तलवार के बल पर नहीं किया। उसका श्रेय तो कठोर सादगी, पैग़म्बर के आत्म-विलोपन के भाव, उनकी टेक और अनुयायियों के प्रति उनके गहरे प्रेम-भाव, उनके साहस और निडरता तथा अपने कार्य के प्रति और ख़ुदा के प्रति उनके सम्पूर्ण विश्वास को है। अपने अभियान में वे जो लगातार सफ़ल होते गये और बाधाओं पर विजय पाते गये, उसका कारण उनके ये गुण ही थे, तलवार नहीं।'[28]

पैग़म्बर के प्रति सम्मान-भाव के बावजूद गाँधी इस्लामी प्रतीकों की कहानियों में नैतिक संदेश ढूँढ़ने का भरकस प्रयास करते हैं। उमर के बारे में वे लिखते हैं :

> मुझे ऐसी आशंका है कि इस पवित्र और न्यायप्रिय मनुष्य के कार्यों को आम मुसलमानों के सामने विकृत रूप में पेश किया जा रहा है। मुझे महसूस होता है कि अगर हज़रत उमर खुद आज अपनी क़ब्र से उठकर हमारे बीच आयें, तो इस्लाम के कथित अनुयायियों के बहुत से ऐसे कामों को वे निंद्य और अस्वीकार्य बताएँगे जो उनके भद्दे अनुकरण के रूप में किये जाते हैं।[29]

गाँधी ने क़ुरान एवं इस्लामी प्रतीकों, विशेषत: पैग़म्बर मुहम्मद, के जीवन का विषद अध्ययन किया था। इसी कारण वे एक संदर्भोन्मुख एवं विवेकशीलता पर आधारित इस्लामी नैतिकता का विचार कर पाए जो, उनके अनुसार, सत्य एवं अहिंसा के आदर्शों की विरोधी नहीं थी। क्या इसका यह अर्थ लिया जाए कि गाँधी एक पाठपण्डित (टेक्स्चुअलिस्ट) थे जो मुसलमानों की हर समस्या का समाधान क़ुरान की रचनात्मक व्याख्या में तलाश करता है?

एक हिंदू का इस्लाम

गाँधी पूरे आत्मविश्वास के साथ बार-बार कहते हैं कि एक हिंदू के रूप में उन्हें क़ुरान, पैग़म्बर मुहम्मद के जीवन तथा मुसलमानों के नैतिक पतन के बारे में बोलने का नैतिक अधिकार है। गाँधी याद दिलाते हैं कि इस्लाम के संदेश पर मुसलमानों का एकाधिकार नहीं है। गाँधी कहते हैं, 'सभी धर्म न्यूनाधिक सच्चे हैं। सबकी उत्पत्ति एक ही ईश्वर से है। फिर भी सब धर्म अपूर्ण हैं; क्योंकि वे हमें मनुष्य द्वारा प्राप्त हुए हैं; और मनुष्य तो कभी पूर्ण नहीं होता।'[30]

इन अर्थों में तो इस्लाम भी एक अपूर्ण धर्म है। गाँधी यह सुझाव देते हैं कि इस्लाम की नैतिक शिक्षाओं को समझने हेतु यह अनिवार्य है कि पहले क़ुरान का वि-इतिहासीकरण किया जाए; साथ ही साथ पैग़म्बर एवं प्रथम चार ख़लीफ़ाओं के जीवन संबंधी असत्य धारणाओं से मुक्त हो उनके नैतिक अतीत को तलाशा जाए।

अफ़ग़ानिस्तान में दो अहमदिया मुसलमानों को संगसार किये जाने की घटना की स्पष्ट शब्दों में कड़ी निंदा करते हुए गाँधी लिखते हैं :

> क़ुरान में केवल कुछ अवस्थाओं में ही संगसारी कि हिदायत दी गयी है, किंतु जिन मामलों पर हम विचार कर रहे हैं उन पर ये अवस्थाएँ लागू नहीं होतीं। मैं मनुष्य हूँ और ईश्वर से डरता हूँ। इस रूप में किन्हीं भी स्थितियों में ऐसे तरीक़ों की नैतिकता पर मुझे शंका करनी चाहिए। नबी के जीवनकाल में और उस युग में चाहे कुछ भी आवश्यक या विहित रहा हो, क़ुरान में इसका उल्लेख

---

[28] *सम्पूर्ण गाँधी वाड्मय,* खण्ड 25, अगस्त, 1924 से जनवरी, 1925 : 134.

[29] *सम्पूर्ण गाँधी वाड्मय,* खण्ड 25, अगस्त, 1924 से जनवरी, 1925 : 135.

[30] *सम्पूर्ण गाँधी वाड्मय,* खण्ड 24, मार्च 1924 से अगस्त 1924 : 153.

> होने मात्र से इस विशेष दण्ड का समर्थन नहीं किया जा सकता। प्रत्येक धर्म के प्रत्येक नियम को विवेक के इस युग में पहले विवेक और व्यापक न्याय की अचूक कसौटी पर कसना होगा। तभी उस पर संसार की स्वीकृति माँगी जा सकती है। किसी भूल का समर्थन संसार के समस्त धर्मग्रंथों में भी किया गया हो तो भी वह इस नियम से मुक्त नहीं हो सकती।[31]

यहाँ हमारा परिचय एक रैडिकल गाँधी से होता है। धार्मिक सिद्धांतों एवं धार्मिक मतावलम्बियों के बीच फ़र्क़ स्थापित करते हुए वे विवेकशीलता एवं सार्वभौम न्याय के प्रश्न को महत्त्व प्रदान करते हैं। उनके अनुसार क़ुरान की शिक्षाओं का समाज के नैतिक-सांस्कृतिक मूल्यों के संदर्भ में विश्लेषण किया जाना चाहिए।

नोआखली में गाँधी के प्रयोग इस बिंदु की व्याख्या करते हैं। अक्टूबर, 1946 में नोआखली में हुए साम्प्रदायिक दंगों में मुसलमानों ने बड़ी संख्या में हिंदुओं का क़त्ल किया था। ऐसे दंगा-प्रभावित क्षेत्र में भी गाँधी ने एक मुसलमान बहुल गाँव में ठहरने का निर्णय लिया। यहीं पर उन्होंने अपनी 18 वर्षीय पोती मनु के साथ ब्रह्मचर्य के कुछेक अजीबो ग़रीब प्रयोग किये। उन्होंने मनु के साथ एक पलंग पर निर्वस्त्र सोना शुरू कर दिया। इस प्रयोग की विशेषता यह थी कि जिस कमरे में गाँधी और मनु निर्वस्त्र सोते थे उसके दरवाज़े और खिड़कियाँ खुले रहते थे ताकि उनका प्रयोग सार्वजनिक हो सके।

गाँधी के ब्रह्मचर्य संबंधी प्रयोगों के अधिकतर बौद्धिक विश्लेषण (इनमें राजमोहन गाँधी तथा विनय लाल भी शामिल हैं) ऐसे प्रयोगों के मुस्लिम संदर्भ पर ध्यान नहीं देते। नोआखली पूर्वी बंगाल का मुस्लिम बहुमत वाला इलाक़ा था। गाँधी वहाँ एक हिंदू के रूप में मुसलमानों को हिंसा त्यागने की सलाह देने गये थे। और इस शांति-अभियान के दौरान वे, बक़ौल उनके, 'परम यज्ञ' की सिद्धि में भी लगे हुए थे। उनके अधिकतर अनुयायियों ने उनके ब्रह्मचर्य प्रयोग का विरोध किया तथा इसे अनैतिक एवं अपमानजनक कृत्य बताया, लेकिन गाँधी ने साहसिक रूप से उनकी आलोचना का सामना किया। *हरिजन* पत्र में प्रकाशित नोआखली की आम सभा का निम्न वर्णन महत्त्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान करता है :

> गाँधीजी ने अपने चारों ओर चल रही ओछी बातों, अफ़वाहों, कानाफूसियों आदि की चर्चा करते हुए कहा कि मैं उनसे बेख़बर हूँ। मैं पहले ही इतने अधिक संदेह और अविश्वास के वातावरण में रह रहा हूँ कि मैं यह नहीं चाहता कि मेरे सर्वथा निर्दोष आचरणों को लेकर लोगों में ग़लतफ़हमी हो और उनका ग़लत अर्थ लगाया जाए। मेरी पौत्री मेरे साथ है। वह मेरे साथ एक ही बिस्तर पर सोती है। जो लोग शल्य-चिकित्सा करवा कर हिजड़े बन जाते हैं, उन्हें पैग़म्बर साहब महत्त्व नहीं देते थे। लेकिन ख़ुदा की आराधना करते हुए जो नपुंसकत्व की स्थिति प्राप्त करते थे, उनका वे स्वागत करते थे। मेरी वैसी ही कामना है। मैं परमात्मा को खोजने की भावना से वह कर रहा हूँ जिसे मैं अपना कर्तव्य मानता हूँ। मैं जो यज्ञ कर रहा हूँ, यह उसका अभिन्न अंग है और मैं चाहता हूँ कि आप मेरे इस प्रयत्न की सफलता के लिए आशीर्वाद दें। मैं जानता हूँ कि मेरे इस आचरण की मेरे मित्रों ने भी आलोचना की है। लेकिन घनिष्ठतम मित्र की ख़ातिर भी कर्तव्य से विमुख नहीं हुआ जा सकता।[32]

हमें नहीं पता कि हिंदुस्तानी में दिये गये उनके इस भाषण का उनके अनुवादक निर्मल कुमार बोस ने बांग्ला में किस प्रकार तर्जुमा किया। लेकिन यह अवश्य स्पष्ट है कि उन्होंने पैग़म्बर का ज़िक्र किया और सबसे पुरुषत्वहीन वर्ग, यानी नपुंसकों, के साथ उनका संबंध स्थापित किया। यह अपने आप में एक अत्यधिक रचनात्मक बौद्धिक प्रयोग था। इस्लामी समाज में पैग़म्बर के लिंग-निरपेक्ष सहाबा के बारे में खुलकर बात नहीं की जाती क्योंकि यह बात इस्लामी प्रसार की गौरवपूर्ण गाथा और मुस्लिम उम्मा की मर्दानगी संबंधी उनके प्रचार के विपरीत जाती है।

---

[31] *सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय,* खण्ड 26, जनवरी, 1925 से अप्रैल, 1925 : 195-96.

[32] *सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय,* खण्ड 86, 21 अक्टूबर, 1946 से 20 फ़रवरी, 1947 : 480.

दूसरे शब्दों में, गाँधी एक मानवीय, विनम्र, विनीत एवं धर्मपरायण लेकिन जातिबहिष्कृत नपुंसक मुसलमान की छवि को मुस्लिम गुण्डों / पठान की छवि के बरअक्स स्थापित कर रहे थे।

निष्कर्ष

आइए अब मुसलमानों के बारे में गाँधी के लेखन से लिए गये सभी उद्धरणों की सैद्धांतिक संरचना की विवेचना करें एवं यह देखने का प्रयास करें कि गाँधी ने किस प्रकार मुसलमानों का चित्रण एक समजातीय वर्ग के रूप में किया।

हमारे विश्लेषण से यह साफ़ है कि गाँधी इस्लामीकरण की दो सतत प्रक्रियाओं को देख रहे थे। एक तरफ़ औपनिवेशिक राज्य मुसलमानों को एक धार्मिक राजनीतिक समुदाय के रूप में चिह्नित कर रहा था; जबकि दूसरी ओर मुसलमानों के बीच चलने वाले सुधार आंदोलन उन्हें बृहत-इस्लामिक उम्मा में बदल देने का आह्वान कर रहे थे। इन दोनों प्रक्रियाओं द्वारा मुसलमानों के सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक डिस्कोर्स का रूप निर्धारित हो रहा था ।

गाँधी यह समझ रहे थे कि मुस्लिम बहुलता की बात करना इन दोनों प्रक्रियाओं की मुख़ालफ़त करने जैसा है। यही वजह है कि गाँधी इस बहस में नहीं पड़ते कि मुसलमान एक हैं या अनेक। बल्कि वे मुस्लिम समाज की अवधारणा को ही पुनर्निर्धारित करना शुरू कर देते हैं। लेकिन अपने दौर के आधुनिकतावादियों की तरह इस्लाम / मुसलमानों की इस पुनर्व्याख्या करने के लिए गाँधी इतिहास का सहारा नहीं लेते। इसके विपरीत, वे क़ुरान जैसे धर्मग्रंथों एवं इस्लामी प्रतीकों के बहुविध संदर्भ-सापेक्ष अर्थ तलाश करने का प्रयास करते हैं।

उनका यह बौद्धिक प्रयास उन्हें इस्लाम का वि-इतिहासीकरण करने एवं मुस्लिम सजातीयता के खोखलेपन का उद्घाटन करने की सम्भावना प्रदान करता है। गाँधी हमें यह बता रहे हैं इस्लामी एकरूपता की संकल्पना का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं है शायद इसी कारण वे स्वयं को पैग़म्बर के मुसलमान हिजड़े के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं।

(इस लेख के बारे में आलोचनात्मक टिप्पणियाँ एवं सुझाव प्रदान करने के लिए मैं डॉ. एस.के. श्रीवास्तव तथा विकासशील समाज अध्ययन पीठ के अपने सहकर्मियों का शुक्रगुज़ार हूँ।)

संदर्भ

अकील बिलगरामी (2003), 'गाँधी, द फ़िलॉसॅफ़र' *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 38, अंक 39.

अमित डे (2013), 'इस्लाम ऐंड गाँधी : अ हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव', *सोशल साइंटिस्ट,* खण्ड 41, अंक 3/4 (मार्च-अप्रैल 2013).

असग़र अली इंजीनियर (1975), *इस्लाम, मुस्लिम्स, इण्डिया,* लोक वाङ्मय गृह, मुम्बई.

इम्तियाज़ अहमद (सं.)(1983), *मॉडर्नाइजेशन ऐंड सोशल चेंज अमंग मुस्लिम्स इन इण्डिया,* मनोहर, नयी दिल्ली.

एंथनी जे. पारेल (सं.)(2007), 'प्रस्तावना', *गाँधी : हिंद स्वराज ऐंड अदर राइटिंग्स,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

एम.के. गाँधी (1949), *हिंद स्वराज,* नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद.

एम. मुजीब (1967), *द इण्डियन मुस्लिम्स,* जॉर्ज एलेन ऐंड अनविन लिमिटेड, लंदन.

गैल मिनॉल्ट (1982), *ख़िलाफ़त मूवमेंट : रिलीजियस सिम्बोलिज़्म ऐंड पॉलिटिकल मोबिलाइज़ेशन इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

जॉन स्ट्रेची (894), *इण्डिया,* कीगन पॉल, ट्रेंच, टर्नर ऐंड कम्पनी लिमिटेड, लंदन.

टी.एन. मदन (2011), *सोसियोलॅजिकल ट्रेडिशंस : मेथड्स ऐंड पर्सपेक्टिव्ज़ इन द सोसियोलॅजी ऑफ़ इण्डिया,* सेज, नयी दिल्ली.

प्रथमा बनर्जी, आदित्य निगम और राकेश पांडेय (2016), 'द वर्क ऑफ़ थियरी : थिंकिंग एक्रॉस ट्रेडिशंस', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 41, अंक 37.

मुशीरुल हसन (1997), *लीगेसी ऑफ़ ए डिवाइडेड नेशन : इण्डियाज़ मुस्लिम्स सिंस इण्डिपेंडेंस* हर्स्ट ऐंड कम्पनी, लंदन.

लॉयड रुडोल्फ़ और सुज़ेन रुडोल्फ़ (2010), *मॉडर्निटी ऑफ़ ट्रेडिशन : पॉलिटिकल डिवेलपमेंट इन इण्डिया,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

वाई.जी. भावे (1997), द *महात्मा ऐंड द मुस्लिम्स,* नॉर्दर्न बुक सेंटर, नयी दिल्ली.

विनय लाल (2000), 'नेकडनैस, नॉन-वायलेंस, ऐंड ब्रह्मचर्य : गाँधीज़ एक्सपेरिमेंट्स इन सेलिबेट सेक्शुअलिटी' *जर्नल ऑफ़ द हिस्ट्री ऑफ़ सेक्शुअलिटी,* खण्ड 9, अंक 1/2, (जनवरी-अप्रैल 2000).

सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड 24, मार्च, 1924 से अगस्त, 1924.

सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड 25, अगस्त, 1924 से जनवरी, 1925.

सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड 26, जनवरी, 1925 से अप्रैल, 1925.

सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड 32, नवम्बर, 1926 से जनवरी, 1927.

सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड 86, 21 अक्टूबर, 1946 से 20 फ़रवरी, 1947.

सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड 89, 03 अगस्त, 1947 से 10 नवम्बर, 1947.

सैयद अमीर अली (1968), रेसियल कैरेक्टरिस्टिक्स ऑफ़ नॉर्दर्न इण्डिया ऐंड बंगाल, सैयद रज़ी वासिती (सं.), *मेमोइर्स ऐंड अदर राइटिंग्स ऑफ़ सईद अमीर अली,* पीपल पब्लिशिंग हाउस, लाहौर.

मीडिया की भाषा-लीला जन-माध्यम के आर-पार अध्ययन की एक दलील है, चूँकि उनकी परस्पर निर्भरता ऐतिहासिक तौर पर लाज़िमी साबित होती है। यह सही है कि राष्ट्र के बदलते भूगोल के साथ-साथ संस्कृति को देखने-परखने के नज़रिये में बदलाव आते हैं, लेकिन आधुनिक मीडिया-तकनीक और बाज़ार लोकप्रिय संस्कृतियों की आवाजाही के ऐसे साधन मुहैया कराते हैं, जिन पर राष्ट्रीय भूगोल की फ़ौरी संकीर्णता हावी नहीं हो पाती। सरहदों के आर-पार लेन-देन चलता रहता है, चाहे वे सरहदें भाषा की हों, क्षेत्र-विशेष की, राष्ट्र की, या फिर मीडिया की अपनी गढ़ी हुई। छापाख़ाना लोकप्रिय सिनेमा के लिए कितना अहम है, यह सिने-पत्रकारिता के इतिहास से ज़ाहिर है, ठीक उसी तरह जैसे कि दक्षिण एशिया में सिनेमा को 'सुनने' का तगड़ा रिवाज रहा है, जिसके चलते सिनेमा के इतिहास को रेडियो के इतिहास से जोड़कर देखना नैसर्गिक लगता है। साहित्य-आधारित सिनेमा पर बातें करने की रिवायत पुरानी है, लेकिन यह देखने का वक़्त आ गया है कि सिनेमा ने साहित्य की शैली, उसकी भाषा पर कौन से असरात छोड़े। और अपने आरंभिक दौर में वैश्विक इंटरनेट का हिंदी आभासी जगत कैसा लगता था? ऐसे ही कुछ सवालों और ख़यालों को कुरेदता है यह संकलन, जिसके केंद्र में हमारी-आपकी भाषा है।